श्रव्य-द्रष्टव्य : सिनेमा में रेडियो 2.0

रविकान्त

जिस तर्ज़ पर इंटरनेट आज कन्वर्जेंस मीडिया कहा जा रहा है, उस हिसाब से पहला संगम माध्यम होने का हक़दार सिनेमा माना जाना चाहिए, यानी एक ऐसा माध्यम जिसमें उसके समय में मौजूद तमाम माध्यम समाहित हो जाते हैं, या कम-से-कम, जगह पाते हैं। दृश्य-श्रव्य माध्यम के रूप में इसकी पारम्परिक प्रसिद्धि इसकी इस सर्वसमावेशी सलाहियत के साथ आंशिक न्याय ही कर पाती है क्योंकि सिनेमा में साहित्य भी है, चित्रकारी भी, फ़ोटॉग्राफ़ी भी है, वास्तुकला और मूर्तिकला तो हैं ही, फ़ोनोग्राफ़ से लेकर ग्रामोफ़ोन और कैसेट-सीडी-एमपीथ्री तक के तमाम श्रव्य-उपादान अपने उत्पादन व प्रयोग से लेकर सराहने तक की प्रक्रिया में शुमार हैं। पोस्टरों से लेकर चौपतिया सचित्र-गीत-डायलॉग मार्का पुस्तिकाओं और फ़िल्मी व ग़ैर-फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं के ज़रिए सिनेमा ने अपने दर्शक-श्रोता तक पहुँच बनाने के लिए तमाम छप-माध्यमों का भरपूर इस्तेमाल किया, वैसे ही जैसे इसने तमाम तरह की लोक-कलाओं व नृत्य-गीत-संगीत की जीवंत विरासत का रचनात्मक इस्तेमाल ख़ुद को और बदले में लोक-कलाओं को समृद्ध बनाने में किया। चूँकि सिनेमा हमारे यहाँ सुना भी जाता रहा है, और अपने तमाम बदलते भौतिक-तकनीकी स्वरूपों में रेडियो इसकी अंतर्वस्तु विज्ञापित और प्रसारित करने का एक ज़रूरी ज़रिया रहा है, यह लेख हिंदुस्तानी सिनेमा में रेडियो के निरूपण का मुख़्तसर जायज़ा लेते हुए उसके ऐतिहासिक संदर्भों को खोलने की एक पेशक़दमी है।

रेडियो से मुझे इश्क़ है।

— कुंदन लाल सहगल, दुश्मन (1939)

सिने-संगीत इंद्र का घोड़ा है और आकाशवाणी उसका सम्मान करती है।

— पण्डित नरेंद्र शर्मा, 1967

कह सकते हैं कि अगर रेडियो का साथ न होता तो सिनेमा के सौ सालों का इतिहास इतना सुनहरा शायद ही होता।

— लीलाधर मंडलोई, 2013[1]

लेकिन पहले दो-चार बुनियादी बातें। फ़िलवक़्त अपनी शताब्दी मना रहा भारतीय सिनेमा आज़ादी से पहले अपने वैश्विक अवतार के साथ ही नमूदार हुआ था, जबकि रेडियो पिछली सदी के तीसरे दशक के आख़िर में प्रकट हुआ भले ही तब तक उसके नेटवर्क और पहुँच निहायत महदूद थे। दरअसल, रेडियो का विस्तार विश्व-युद्धों के दरम्यान, बल्कि 1935-40 के दौरान, औपनिवेशिक निज़ाम की सरपरस्ती और लायनेल फ़ील्डन व बुख़ारी बंधुओं (अहमाद शाह व ज़ुल्फ़िक़ार अली) के नेतृत्व में हुआ। इसी दौर में 'ऑल इण्डिया रेडियो' को उसका यह नाम मिला, गोकि दिलचस्प है कि आज़ादी के बाद का सामान्य देसी नाम 'आकाशवाणी' पहले भी मैसूर आदि के रियासती रेडियो में इस्तेमाल होता था। दूसरी विडम्बना यह है कि जिन महात्मा गाँधी के 12 नवंबर ,1947 के पहले और आख़िरी स्टूडियो प्रसारण को आकाशवाणी प्रसारण-दिवस के रूप में मनाता आया है, उन्होंने न तो औपनिवेशिक रेडियो को अपने आशीर्वाद के क़ाबिल समझा, न ही स्वदेशी सिनेमा को खुले तौर पर अंगीकार किया। मुख्यधारा के राष्ट्रवादी विमर्श में दोनों के बरक्स स्थिति तनावपूर्ण या कहें एकतरफ़ा प्यार की ही रही, क्योंकि सिनेमा ने अपनी तरफ़ से राष्ट्र-धर्म निभाने की भरसक कोशिश की। फिर भी कुछ ऐसा था दोनों ही के मिज़ाज और अंतर्वस्तु में— शायद इनकी लोकप्रियता, शायद इनका मनोरंजनप्रधान अतएव 'गैर-सार्थक' होना, शायद इनकी भाषायी संकरता, शायद सिनेमा की व्यावसायिकता— कि देश के नैतिक कर्णधारों ने इन दोनों माध्यमों से किंचित दूरी बनाए रखने में ही अपनी और देश की भलाई समझी। इसीलिए तो आज़ादी के बाद के पहले दशक में, फ़िल्मी संगीत के तथाकथित सुनहरे दौर में, तक़रीबन पाँच बेशक़ीमती सालों तक ऑल इण्डिया रेडियो पर सिनेगीत का प्रसारण बंद रहा, जिसका माली फ़ायदा रेडियो सीलॉन को मिला, जिसे श्रोताओं ने विदेशी न मानकर सहर्ष अंगीकार किया, बल्कि लोग उस ज़माने में रेडियो ख़रीदते वक़्त पहले तस्दीक़ करते थे कि इसमें रेडियो सीलॉन बजता तो है ? फिर तो सन सत्तावन में विविध भारती नामक चैनल आया, जिसका व्यवसायीकरण 1967 में हुआ और फ़िल्मी संगीत-सरिता हिंदुस्तानी तरंगों पर आरूढ़ होकर आयास बह निकली। कालांतर में दूरदर्शन भी आया, जिस पर चित्रहार और फ़िल्म प्रसारण इतने मनोरंजन-प्रधान फ़िल्मी चैनलों के आने के बावजूद आज भी जारी हैं। साठ-सत्तर के दशक में ट्रांज़िस्टर-क्रांति हुई यानी पोर्टेबल या चल-रेडियो-सेट बड़ी तादाद में बनने-बिकने लगे जो बाद में संतोष-जैसे सेटों के रूप में और भी कम दामों पर उपलब्ध होकर ख़ासमख़ास के तंग दायरों से निकल कर आमजन की चीज़ यूँ बन गया कि बिहार के धुर देहातों में दूल्हे बतौर दहेज़ घड़ी-साइकिल के साथ 'बाजे' की माँग रखने लगे। क़िस्सा कोताह ये कि आख़िरकार हुआ वही जो होना चाहिए था, लेकिन केंद्र सरकार अपने नागरिकों के नैतिक स्वास्थ्य को लेकर

---

[1] 'सिनेमा के लिए रेडियो', *नया पथ* (2013), *हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ बरस,* जनवरी-जून : 288.

इतनी चिंतित रही कि उसने अवश्यम्भावी को विलंबित किया। रेडियो के विवेकहीन नियंत्रण की प्रवृत्ति पर वह आज तक इस क़दर आमादा है कि निजी एफ़एम चैनलों को, जिन पर हर घंटे 13-14 गाने सुनाने की होड़ मची है, ख़बरें प्रसारित करने की इजाज़त नहीं मिली है, भले ही उपग्रह टेलिविज़न के दौर में निजी टीवी चैनलों ने इस हलक़े में अपना दबदबा क़ायम कर लिया हो। वक़्त आएगा जब निजी एफ़एम पर भी समाचार आएँगे, वैसे ही जैसे हारमोनियम जैसा ग़रीब, लोकप्रिय बाजा जो सन चालीस के आसपास बुख़ारी साहब के ज़माने में नेहरू और रवींद्रनाथ ठाकुर के आशीर्वाद से प्रतिबंधित होकर दशकों तक रेडियो से निर्वासित ही रहा— अपनी वापसी के लिए उसे आठवीं दहाई का इंतज़ार करना पड़ा।[2]

क्या क़सूर था बेचारे हारमोनियम का? इलज़ाम था कि ये यह तो गोरे मिशनरियों द्वारा धर्मप्रचार करने के लिए लाया गया एक विदेशी वाद्य है जिसके सुर हिंदुस्तानी शास्त्रीय रागों को समग्रता में ध्वनित करने में अक्षम हैं।[3] एक और इलज़ाम था जो खुल कर नहीं लगाया जाता था कि इसका इस्तेमाल सड़क से लेकर मुजरों तक तमाम तरह के बंज़ारे और दीगर लोकरंजक समूह किया करते थे, जिनसे रेडियो के उच्च-भ्रू प्रतिष्ठान को चिढ़ थी। यूँ देखने पर हिंदुस्तानी ज़ुबान, तवायफ़ों और फ़िल्मी गानों की जलावतनी का तार हारमोनियम के भाग्य से सहज ही जुड़ता हुआ मालूम देता है। इसके बरअक्स शायद और भी पहले से लेकिन कम-से-कम कुंदन लाल सहगल के दौर से चल कर 'अमर अकबर ऐंथॅनी' के अकबर इलाहाबादी बने ऋषि कपूर से होते हुए हाल ही में बर्फ़ी बने रणबीर कपूर ने रेडियो को अपनी फ़िल्मों में कलेजे से लगाकर रखा है। उन्नीस सौ सत्तर के दशक और छोटे शहर दार्जीलिंग में अवस्थित बर्फ़ी के मूक-बधिर नायक द्वारा ध्वनि यानी शब्द और संगीत के सम्प्रेषण के इस यंत्र से तन-मन-नाम की ऐसी प्रतिबद्ध सम्पृक्ति अपने ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक रूपकार्थ में कितनी मानीख़ेज़ है!

सरकारी प्रतिबंध और सामाजिक असहजता से लेकर अंगीकार के बीच फैले तनाव के इस पसेमंज़र हम एक श्रव्य-माध्यम की सिने-दृश्यमानता का ऐतिहासिक आकलन कर सकते हैं, उसे बेहतर ढंग से समझ और सराह सकते हैं। अपने सिनेमची और संकलक दोस्तों की मदद से अब तक मैंने तक़रीबन पचास फ़िल्मों की सूची बनाई है जिनमें रेडियो बतौर किरदार या तो ख़ुद हाज़िर होता है या जिनमें घर-परिवार से लड़ कर रेडियो में काम करने वाले अपनी पेशेवर या निजी ज़िंदगी की कशमकश बतौर नायक-नायिका-खलनायक बयान करते हैं।[4] दिलचस्प है कि शुरुआती दौर की कुछ ख़ास फ़िल्मों में रेडियो की ऐसी केंद्रीयता है कि चरित्रों का नायकत्व या खलनायकत्व रेडियो से उनके बनते-बिगड़ते रिश्ते से तय होता है। ज़्यादातर मिसालें आपको ऐसी मिलेंगी जिनमें खलनायक रेडियो से खीझता है, बाज़ दफ़े तो इतना परेशान होता है कि उसे तोड़ डालता है। याद कीजिए इसी नाम के बांग्ला उपन्यास पर बनी हृषिकेष मुखर्जी की फ़िल्म 'सत्यकाम' (1969) को, जिसकी कहानी

---

[2] सैयद ज़ुल्फ़िक़ार अली बुख़ारी (2011), *सरगुज़श्त,* नैशनल बुक फ़ाउंडेशन, इस्लामाबाद, 2011, बाब: 28 : मेरी भूमिका के साथ इस अध्याय के फ़ातिमा नूर के हिंदी लिप्यंतर के लिए देखें *अक्सार,* 36 : 48-64.

[3] मैट रहेम (2011), 'दैट बेन(बैन) ऑफ़ इंडियन म्यूज़िक : हियरिंग पॉलिटिक्स इन द हारमोनियम', द *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 70, अंक 3 (अगस्त) : 657-682.

[4] मेरे ऐसे मेहरबान दोस्तों की अपनी फ़ेहरिस्त काफ़ी लम्बी है, लेकिन फ़िलहाल प्रभात झा, सौम्या, राकेश प्रताप सिंह, इरफ़ान, रवि वासुदेवन, अवधेंद्र शरण, श्रुति पार्थसारथि, मिहिर पंड्या, अलंकार और माली साँवरिया का ख़ास तौर पर शुक्रिया। यह लेख टुकड़ों में सीएसडीएस रिट्रीट सहित कई जगहों पर पेश किया जा चुका है तमाम प्रतिभागियों का आभार. इसका एक छोटा संस्करण लोकमत समाचार दीपभव 2013 में छपा है; शुक्रिया पीयूष दईया। मेरे पाठक शायद जानते हों कि यह लेख मेरी मौजूदा अंतर-माध्यम शोध परियोजना का एक छोटा-सा टुकड़ा है. पहले के लेख यहाँ हैं : 'हिंदी फ़िल्म अध्ययन : माधुरी का राष्ट्रीय राजमार्ग', *लोकमत समाचार* (2011) दीप भव; 'सिनेमा, भाषा, रेडियो : एक त्रिकोणीय इतिहास', *कथादेश* (2011), जुलाई; और हाल में प्रकाशित, 'भाषा का सवाल : फ़िल्मी सदी का पैग़ाम', *नया पथ* (2013), *हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ बरस,* जनवरी-जून, 2013 : 61-72. अंतर्जाल पर काफ़िला, जानकी पुल, रचनाकार और गद्यकोश पर भी.

दरअसल ग़ुलामी–आज़ादी की उस गोधूलि वेला में अवस्थित है जब गृह मंत्री सरदार पटेल के नेतृत्व में देसी रियासतों का विलय किया जा रहा था। एक रियासत का राजा इस आशंका से भयभीत है और इस ताक में है कि भारत में विलय होने से पहले खदानों से जितना खनिज निकाला जा सकता है निकाल लिया जाए, और इसीलिए इंजीनियर बने धर्मेंद्र से वह उल्टी–सीधी पैमाइश की ख़ानापूर्ति करके दस्तख़त हासिल कर लेना चाहता है, जो अपना आदर्शवादी नायक तो करने से रहा। तो जब ड्रॉइंग रूम में लगे बड़े–से रेडियोग्राम पर यह ख़बर आती है कि सत्ता हस्तांतरण के बाद सद्य:स्थापित सरकार ने विलय की तारीख़ तय कर दी है तो खलनायक तैश में आकर रेडियो की बकवास बंद करने का आदेश देता है, और अपने अमले से पूछता है कि सरदार पटेल से जो उनकी बातचीत चल रही थी उसका क्या हुआ? यानी मदांध राजा को अब भी भरोसा है कि केंद्रीय सत्ता के साथ उसका अपना हॉटलाइन ज़्यादा कारगर होगा, और रेडियो की ख़बरें चिड़चिड़ाहट पैदा करने वाली भले हों पर कहीं न कहीं झूठी हैं!

सन साठ की एक मशहूर फ़िल्म 'बरसात की रात' से एक और मिसाल लेते हैं। गीतकार साहिर लुधियानवी और मौसीक़ार रौशन की बेहतरीन क़व्वालियों से सजी इस फ़िल्म में रेडियो ही वह चीज़ है जो शायर अमन हैदराबादी बने भारत–भूषण को नायिका शबनम बनी मधुबाला से मिलवाती और उनके प्यार को परवान चढ़ाती है। और जब वे शबनम के पिता के ख़ौफ़ से शहर–बदर होते हैं, तो उनकी गतिविधियों का सुराग़ भी देती है, उनकी चुगली करती है, यानी रेडियो शबनम के आला दर्जे के पुलिसिया पिता के.एन. सिंह के लिए जासूसी का औज़ार भी बन जाता है। 'ज़िंदगी–भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात' के रेडियो–प्रसारण को याद कीजिए और रेडियो से चिपकने की मधुबाला की सरगोशियों को भी, तो यूँ लगेगा मानो एक आवाज़ रेडियो की देह धर कर उसके कमरे में उतर आई हो और उस आवाज़ से एकमेक होने के चक्कर में नायिका रेडियो में घुसी चली जा रही हो। यानी प्यार का रेडियो के ज़रिए इज़हार भी और शब्दश: अंगीकार भी। अब भला ऐसी अंतरंगता अब्बा जान को क्यूँ भाए! तो जब आख़िरी क़व्वाली का मुक़ाबला चल रहा होता है और भारतभूषण अपनी सहेली क़व्वालिनों की मदद के लिए उतरते हैं तो रेडियो के सीधे प्रसारण से मधुबाला को पता चल जाता है कि नायक कहाँ है तो बिछड़े आशिक़ से मिलने के लिए वह तीर की तरह निकल भागती है। क़व्वालियों के मेयार से भी थोड़ी लम्बी क़व्वाली 'न तो कारवाँ की तलाश है' अभी ख़त्म नहीं हुई है कि अब्बाजान घर आ जाते हैं। बेटी को ग़ायब और क़व्वाली को लाइव पा कर दो और दो चार जोड़ लेते हैं। दराज़ से पिस्तौल निकालते हैं कि आज नायक का क़िस्सा तमाम कर देंगे, लेकिन निकलने से पहले गोया उस घृणित आवाज़ को ही ख़ामोश कर देना चाहते हैं, इसलिए भरपूर ठोकर मार कर रेडियो को धराशायी और चकनाचूर कर डालते हैं। ग़ुस्सा वाजिब भी है, ग़ैर–वाजिब भी : रेडियो के चलते ही बेटी उनके हाथ से बाहर निकली थी। यह ठीक है, लेकिन भूल जाते हैं कि बेचारे रेडियो ने उनकी खोयी बेटी को खोजने में कितनी मदद की थी!

श्रव्य को रूपायित करना आसान नहीं है, इसलिए अक्सर इन रूपांकनों में कैमरा उन तकनीकी औज़ारों को भी दिखाता चलता है, जिनके ज़रिए ध्वनि का उत्पादन, उसका संचार, उसकी पैठ, उसकी व्याप्ति, श्रोता तक उसकी पहुँच और श्रोता के रद्दे–अमल और अंग–संचालन से ज़ाहिर उसके असर तक की पूरी प्रक्रिया हमारे सामने साफ़ हो जाए। जहाँ रेडियो स्टेशन के नाम की घोषणा का अवकाश नहीं होता वहाँ एक शॉट 'ऑल इण्डिया रेडियो' लिखी तख़्ती या AIR लिखे माइक्रोफ़ोन का ले लिया जाता है, और फिर हमें स्टूडियो में रिकॉर्डिंग की प्रक्रिया में शामिल कर लिया जाता है, बाक़ायदा साज़िंदों की शिरकत और हरकत के साथ। इस दौर में नायक–नायिका अक्सर शायर/कवि/गायक/गायिका होते हैं, जो इस बात का पता देता है कि रेडियो पर अदब की मौजूदगी कितनी अहम थी, लेकिन गीत–साहित्य यहाँ महज़ अपने छप–रूप में नहीं बल्कि मंचीय या तरन्नुमज़ा

'ज़िंदगी-भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात' के रेडियो-प्रसारण को याद कीजिए और रेडियो से चिपकने की मधुबाला की सरगोशियों को भी ... दराज़ से पिस्तौल निकालते हैं कि आज नायक का क़िस्सा तमाम कर देंगे, लेकिन निकलने से पहले गोया उस घृणित आवाज़ को ही ख़ामोश कर देना चाहते हैं, इसलिए भरपूर ठोकर मार कर रेडियो को धराशायी और चकनाचूर कर डालते हैं।

यानी सांगीतिक रूप में ज़्यादा दीखता है। 'तीन देवियाँ' (1965) का नायक देव आनंद शायर-गायक और साज़-कंपनी में सेल्समैन है तो 'दिल की रानी' ('स्वीटहार्ट', 1947) का नायक आशुकवि राज कपूर अपने गीतों की बंदिश ख़ुद बनाकर रेडियो और ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड के ज़रिए पेश करता है तो 'दूल्हा-दुल्हन' (1964) का 'कल्लू क़व्वाल'(राज कपूर) रेडियो की नौकरी से ही अपना गुज़ारा करता है। 'दिल-ए-नादाँ' (1953) में नायक तलत महमूद वायलिनवादक और संगीतकार है, जिसका दक़ियानूस मुंशी बाप उसकी वायलिन तोड़ देता है, क्योंकि वह चाहता है कि तलत उसी के इज़्ज़तदार नक़्शेक़दम पर चल कर वसीक़ानवीसी करे। जब टूटी वायलिन लेकर तलत एक साज़ दुकान में पहुँचता है तो सहृदय दुकानदार उसकी लगन और प्रतिभा का क़ायल होकर न केवल उसे नयी वायलिन देता है, बल्कि एक फ़िल्म कम्पनी में पाँच सौ रुपये माहवार बतौर मौसीक़ार उसे रखवा भी देता है। यह कहानी कुछ-कुछ नौशाद साहब की आत्मकथा से मिलती है। बम्बई भागने से पहले उन्होंने अपने शहर लखनऊ की एक साज़ की दुकान में ही झाड़-पोछा करके चुपके-चुपके साज़ बजाना सीखा था।[5] फ़िल्म अहम इसलिए है कि इसमें सिनेमा-भीतर-सिनेमा भी मौजूद है, और तलत महमूद की पहली झलक रेडियो स्टेशन में वायलिन बजाते हुए ही मिलती है। खलनायक द्वारा रेडियो तोड़ने की एक और घटना का दृष्टांत देव आनंद, वैजयंतीमाला व प्राण-अभिनीत फ़िल्म 'अमरदीप' (1958) में मिलता है, जिसमें अपने अमीर पिता के घर में रहने वाली नृत्य-गीत-प्रिय नायिका ख़ास तौर पर इस वजह से घुटन महसूस करती है क्योंकि उसकी शादी बचपन में ही प्राण से

[5] नौशाद (1993), 'मेरा संगीत मुझे दे दो', *एक्सप्रेस स्क्रीन,* 2 जुलाई : 18.

'दिल की रानी' ('स्वीटहार्ट', 1947) का नायक आशुकवि राज कपूर अपने गीतों की बंदिश ख़ुद बनाकर रेडियो और ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड के ज़रिए पेश करता है तो 'दूल्हा-दुल्हन' (1964) का 'कल्लू क़व्वाल' (राज कपूर) रेडियो की नौकरी से ही अपना गुज़ारा करता है।

तय कर दी गयी है। दोनों में बनती नहीं है : झगड़ा इतना बढ़ जाता है कि नायिका घर छोड़कर भाग जाती है। होता ये है कि रात का वक़्त है, वह रेडियो पर एक फ़िल्मी गाना ('ना मारो नजरिया के बान, अकेली आयी पनिया भरनऽ, ना मारो...')[6] सुन रही है, लेकिन प्राण के सोने का वक़्त हो जाता है, और वह उसे रेडियो बंद करने को कहता है, वह नहीं मानती, बल्कि वॉल्यूम ऊँचा कर देती है, तो वह बिजली का तार खींच कर रेडियो को बाक़ायदा अपने सर से ऊपर उठाकर ज़मीन पर पटक कर चकनाचूर कर देता है। इसके बाद ही वह घर से पलायन का अतिरेकी क़दम उठाती है।

रेडियो देवी!

फ़िल्म 'जेलर' (1958) के सोहराब मोदी के सफ़ेद-स्याह किरदार का मिज़ाज आजकल ठीक है या नहीं ये इस बात से भी सम्प्रेषित होता है कि संगीत से वह फ़िलहाल प्यार कर रहा है या नफ़रत! अगर वह ख़ुश रहता है तो क़ैदियों को गाने के लिए उत्साहित करता है जबकि दुखी होने पर उनके गाने-बजाने पर पाबंदी लगा देता है : क़ैदी भी क्या दार्शनिक गीत गाते हैं : 'बस एक सज़ा ही तो है ज़िंदगी'। वैसे दुखी होने के लिए जेलर के पास कई धारावाहिक कारण हैं, लेकिन स्थायी वजह उसकी पत्नी (कामिनी कौशल) की बेरुख़ी है, जो कहना कठिन है कि उसकी कुरूपता से भागती है या अपने कॉलेज के ज़माने के डॉक्टर प्रेमी को न भूल पाने की वजह से। एक और समांतर वैचित्र्य दिखाती दृश्यावली है मंदिर के भजन के बरक्स नौटंकी-स्टाइल आइटम नंबर की क्षणिक लोकप्रियता की, जिसे आयोजित करने में एक ग़ुण्डानुमा किरदार ने अपने लठैतों का सहारा भी लिया है : नर्तकी गा रही है : 'मेरी हिरनी जैसी चाल, मेरे गोरे-गोरे गाल, पलटकर देख ले, ओ काली टोपी वाले आ' और सूरदास बना गायक गा रहा है : 'पलटकर आ भी जा शरण उस राम की'। एक शास्त्रार्थनुमा ज़ोर-आज़माइश होती है श्रृंगार और अध्यात्म, या कहें सड़कछाप गीत और भक्ति-गीत के बीच, जिसमें आख़िरी जीत देवताओं की महिमा की होती है। सारे सुबह के भटके हुए गाने के आख़िर में मंदिर की चौखट पर

[6] दिलचस्प है कि ये गाना वैजयंती माला की ही एक फ़िल्म ('पहली झलक', 1954) से है।

वापस आ जाते हैं। इस तरह के मुक़ाबले के संदर्भ में अगले साल की ही फ़िल्म 'पैग़ाम' (1959) का मोहम्मद रफ़ी-आशा भोंसले का एक युगल गीत याद करना लाज़िमी है, जो कुछ यूँ चलता है :

जॉनी वॉकर : सुनो- सुनो-सुनो हे पंडित लोगो, सुनो-सुनो मौलाना
अपना ये संसार हुआ है (क्या?)बिल्कुल पागलख़ाना, बदला सारा ज़माना बाबू(2)
सतनारायण की कथा में अब तो बजता फिल्मी गाना, हो फिल्मी गाना, हो फ़िल्मी गाना
दोनों : बदला सारा ज़माना बाबू, बदला सारा ज़माना(3)
मीनू मुमताज़ : आऽ....आज का मजनूँ सीख गया है (क्या?) लैला के पाँव दबाना, हो पाँव दबाना(2), बदला सारा ज़माना बाबू(2)
जॉनी : गजब भया रे भाई हाय-हाय-हाय
चेला गुरु को चूना लगाय
जनता को ज्योतिसी उल्लू बनाय
दूधवाला दूध में पानी मिलाय
मीनू : जिसको न झाड़ू पकड़ना भी आय
वो बेटा अपना ही झंडा उड़ाय
आदमी भी कैसा पाज़ी है हाय
मौक़ा मिले तो भगवान बेच खाय (2) हाय हाय हाय
जॉनी : कुछ लोगों का धंधा हुआ है(क्या?) मंदिर में जूते चुराना,
चप्पल चुराना, हो बूट चुराना,
दोनों : बदला सारा ज़माना बाबू...

एक ही साल के अंतराल में आई इन दोनों फ़िल्मों के इन गीतों का तुलनात्मक पाठ दिलचस्प है : सिनेमा को ज़ाहिर तौर पर नौटंकी-टाइप सड़कछाप लोक-कलाओं का वारिस मानते हुए, उसकी ऐहिक भौतिकता असंदिग्ध है, लेकिन उस ज़माने में बढ़ती लोकप्रियता भी एक तिर्यक अंदाज़ में दर्ज होती दिखाई दे रही है, भले ही इसे कलयुगी उलट-पुलट के नानाविध प्रतीक-चिह्नों में से एक मान लिया जाए कि 'सतनारायन की कथा में अब फ़िल्मी गाना' बजने लगा है! हम अपने रोज़ाना के तजुर्बे से जानते हैं कि हज़ारहा फ़िल्मी गीतों की धुनों पर एक तरफ़ भजन तो दूसरी तरफ़ शादी आदि के समय स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले संस्कार-गीतों की अबाध सृष्टि जारी है, जिसके एक आदि क्षण की ओर इशारा कर रहा है ये गीत। यानी 'लोक' और 'फ़िल्म' के बीच सामग्री की आवाजाही दोतरफ़ा रही है। अगर हम ये भी याद रखें कि हिंदी फ़िल्मों में बंजारे-विदूषक-भिखारी-फ़क़ीर-तवायफ़-साधू-मल्लाह आदि हाशिए के किरदार अक्सर एक उच्चतर सत्य की पुकार या उद्घोषणा लेकर आते रहे हैं, तो ये आख़िरी गीत और भी ग़ौरतलब हो उठता है।

वापिस 'जेलर' पर आते हुए, एक शास्त्रीय मिज़ाज का गीत बज रहा है रेडियो पर जिसे हम लाइव देख रहे हैं, एक को छोड़ कर बाक़ी साज़िंदों की आँखों पर काले चश्मे हैं, जिससे आप अंदाज़ा लगाते हैं कि वे दृष्टिहीन हैं। जिसे पान की दुकान पर सोहराब मोदी का स्थायी रक़ीब अभि भट्टाचार्य जो अब एक दुर्घटना में अंधा हो चुका है, बड़ी तन्मयता से सुन रहा है, जबकि उसकी सहेली दृष्टिहीन गीता बाली जो अब सोहराब के आश्रय में है और उसके बैठकख़ाने में उतने ही ध्यान से सुन रही है। तीनों ही के दिल में विरह की कचोट है, मदन मोहन की धुन पर सजे राजेंद्र कृष्ण के माक़ूल बोल यूँ हैं :

तोरे पैयाँ पड़ूँ मैं ओ पपिहरा, जा रे जा रे जला ना मोरा जियरा
तोहे तरस ना आये, काहे रार मचाये,जले आप मुझे भी जलाये
बूंदनियाँ बरसन लागी रे, काहे शोर मचाये रे पपिहरा....

गीत की समाप्ति पर सोहराब रेडियो बंद कर देते हैं गीता बाली ताली बजा कर दाद देती हैं और फिर एक मज़ेदार संवाद चलता है :

गीता : अच्छा गाती हैं आप!
सोहराब : कौन?
गीता : अभी जो गा रही थीं। क्या नाम है उनका?
सोहराब : इनका नाम है रेडियो।
गीता : रेडियो! रेडियो देवी, आप बहुत अच्छा गाती हैं।
सोहराब : हा हा हा हा हाऽ...
गीता : क्यूँ, हँसे क्यूँ?
सोहराब : तुमने बात ही ऐसी कही। ये कोई देवी नहीं है। ये तो मशीन है।
गीता : मशीन! तो ये मशीन में से आवाज़ आ रही थी? जैसे कोई यहाँ बैठा गा रहा हो। बिल्कुल इंसान की तरह।
सोहराब : ये इंसान ही तो गा रहा था।
गीता : और वो कहाँ गा रहा था?
सोहराब : यहाँ से दूर, कोसों दूर।
गीता : फिर यहाँ तक आवाज़ कैसे आती है?
सोहराब : हवाएँ उड़ाकर ले आती है। लो, सात समंदर पार की भी आवाज़ सुन लो।
(सोहराब एक विदेशी स्टेशन लगा देते हैं और एक पाश्चात्य धुन कमरे में तैर जाती है। इस पर वह घबड़ाहट में मुँह में अँगुली डाल लेती है, अपने कान बंद कर लेती है।)

श्रव्य-प्रक्रिया पर केंद्रित इस दृश्यबंध में दो बातें हमारे नोट करने लायक़ हैं : 1. रेडियो भले ही पान की दुकान तक पहुँच गया है, पर गीता बाली के किरदार में निरूपित ग़रीब अब तक उसके वजूद और उसकी कार्य-पद्धति से नावाक़िफ़ है, और उसे रेडियो का ककहरा अमूमन उसी सुबोध मुहावरे में समझाया जा रहा है जिसमें मंटो ने दिल्ली स्टेशन के लिए 1940 वाले दशक की शुरुआत में लिखे 'आओ रेडियो सुने' नामक नाटक में गूँथा था, और जिसे द्रष्टव्य बनाने की साफ़ कोशिश 'दिल की रानी' (1948) में भी मिलती है।[7] सोहराब की वर्गीय और पेशेवराना स्थिति उन्हें इस मामले में जानकार ठहराती है, और वे विस्मित गीता बाली पर रेडियो का मशीनी जादू खोलते हुए अपनी समझदारी की धाक जमाते चलते हैं। 2. शास्त्रीय गीत का बजना अहम इसलिए है कि इस केसकर-काल में रेडियो पर शास्त्रीय संगीत की तूती बोलती है, लेकिन हिंदी सिनेमा के पाठ में शास्त्रीय को सराहने वाला किसी भी वर्ग का हो सकता है, और गा-बजा-माँगकर गुज़र करने वाली गीता बाली की गायन प्रतिभा तो ख़ैर ऊपर-वर्णित भजन वाले दृश्य में स्थापित हो ही चुकी है। यानी शास्त्रीय और लोकप्रिय का जो परस्पर विरोधी द्वंद्व-विधान स्वातंत्र्योत्तर भारत के रेडियो प्रतिष्ठान ने रचने की कोशिश की थी, वह सिनेमाई नज़रिए से बेमानी ठहरता है।

रेडियो को रूपायित करने वाली शुरुआती फ़िल्मों में प्रभात चित्र की 'अपराधी' (1949) का ज़िक्र थोड़ी तफ़सील की माँग करता है, क्योंकि इसमें भी रेडियो की उपस्थिति उतनी ही अहम है, जितनी रेडियो में काम करने वाली नायिका मधुबाला के उससे बनते-टूटते रिश्ते के हालात की कहानी। फ़िल्म शुरू ही होती है 'प्यार करने वालों के लिए है ये दुनिया' नामक गाने के प्रसारण से, जिसके अंतरों के दौरान हमें समग्र कायनात — बकरा-बकरी, ऊँट-ऊँटनी, भैंस-भैंसनी, पंछी-हैवान, बूढ़े-जवान, बाबू-किसान और उनकी संतानों — में सहज प्रेम-प्रजनन-परिवार-संसार करने वालों की चल-तस्वीरें

---

[7] स'आदत हसन मंटो, 'आओ रेडियो सुनें', शरद दत्त व बलराज मेनरा (सम्पा.) *दस्तावेज़ मंटो*, खण्ड 3 : 59-66. इस नाटक के विश्लेषण के लिए देखें मेरा एक और लेख, 'अपुन का मंटो : पाकदिल, सियाहक़लम, अपूर्व, अप्रतिम, अखण्ड': http://kafila.org/2012/09/16.

गुदगुदाने वाले अंदाज़ में दिखाई जा रही हैं। कैमरा शहर में घूमता हुआ ही ऑल इण्डिया रेडियो में घुसा था, और फिर बाहर ही घूम रहा है। जब 'जो न करता प्यार उसका जीवन ही बेकार है/बात न बूझे कोई, जिसके बीवी न घर-बार है/घर-बार करने वालों के लिए है दुनिया' के बंद वाला आख़िरी अंतरा चल रहा होता है तो कैमरा कसरत-मास्टर अमर वर्मा (राम सिंह) के घर में दाख़िल होता है। अलमारियों में पदक और शील्ड सजे हुए हैं, कुछ तस्वीरें अमर के बॉडी-बिल्डिंग करतबों की भी, पर सबसे ज़्यादा ध्यान खींचने वाला बड़ा-सा चित्र बजरंग बली का है, जिसके ऐन नीचे कच्छा पहने वह दण्ड पेल रहा है कि पहली पंक्ति सुनकर ही लड़खड़ा जाता है, दूसरी तक सोचने की मुद्रा में आ जाता है, और आख़िरी बंद में गोया आवाज़ पर मंत्रमुग्ध होकर रेडियो के क़रीब आ जाता है। इस तरह गाना ख़त्म होते-होते उसका जीवन बदल जाता है : देवी-देवताओं की तस्वीरों का रुख़ पलट कर वह हॉलीवुड की नायिकाओं की तस्वीरें नुमायाँ कर देता है— पीछे ही तो थीं!— और मधुबाला को खोजने निकल पड़ता है, जिसे पटा कर वह जल्द ही शादी रचा लेता है।

लेकिन अमर ईर्ष्यालु, शंकालु और रुढ़िवादी है। शादी के बाद ही पत्नी को रेडियो पर काम करने की मनाही कर देता है, और अपने पुराने सहपाठी मित्र प्राण— जो देशभक्त स्वतंत्रता सेनानी व क्रांतिकारी है, सफ़ेद कुर्ता-पायजामा-नेहरूकट-सदरी पहनता है, स्त्री मुक्ति और अहिंसा का हामी है और जिसके मत्थे पुलिस का पाँच हज़ारी इनाम भी है— को अपने घर में पनाह तो दे देता है लेकिन अपनी बीवी पर शक भी करने लगता है, और निगरानी करने के चक्कर में नौकरी छोड़ देता है। फिर पुलिस को इनाम के लालच में प्राण को पकड़वाने घर ले आता है। प्राण तो वहाँ नहीं मिलता, मधुबाला ने उसे वक़्त रहते सचेत कर दिया था, पुलिस अलबत्ता उसे पागल समझने लगती है। पुलिस के जाने पर मियाँ-बीवी में झगड़ा होता है: वह उस पर इलज़ाम लगाता है कि उसके पेट में प्राण का बच्चा है, जिससे विचलित होकर वह उसके गाल पर तमाचा जड़ देती है। फिर पति से पिटती है और अपने अंधे बाप के घर आ जाती है। बच्चा पालते हुए वापिस रेडियो पर गाने लगती है : 'दिल रो रहा है, हम गा रहे हैं/वादे तुम्हारे याद आ रहे हैं/ये किस ज़ुल्म की हम सज़ा पा रहे हैं/हम गा रहे हैं, दिल रो रहा है' और उसे उसकी बेवफ़ाई के लिए कोस रही है। अमर अपने पलंग पर अकड़ू बना सुनता हुआ मुँह बिचकाता है, और पहले अपने सिरहाने पड़ा एक ग्लास, फिर अलार्म घड़ी फेंक मारता है रेडियो पर; रेडियो तब भी चुप नहीं होता तो धातु की पहलवानी मूर्ति से भरपूर वार करके उसे तोड़ डालता है : गाना ख़त्म, रेडियो ख़त्म! ग़ौरतलब है कि इस वार की धमक से रेडियो के ऊपर टँगी राम की तस्वीर भी हिल कर टेढ़ी हो जाती है। ख़याल रहे कि यह तस्वीर मधुबाला के इस हनुमानप्रेमी ब्रह्मचर्यव्रती घर में आ कर गृहस्थी बसाने के बाद ही लगी थी, और रेडियो का उसके ऐन नीचे होना उसकी ज़िंदगी में रेडियो की पावन प्रतिष्ठा का प्रतीक है। एक और दृश्य याद करें जब रक्षाबंधन के दिन प्राण के घर आने पर वह राखी की थाल सजा कर लकड़ी के कैबिनेट वाले रेडियो के ऊपर उसी भगवान के चित्र के ऐन नीचे रखती है, गोया उन्हें साक्षी मानकर प्राण को राखी बाँधती है, तो यह दृश्य-संयोजन हमें सिनेमा द्वारा रेडियो की घरेलू और गरिमामयी छवि के निर्माण की एक कोशिश के तौर पर देखने को मजबूर करता है। वह भी सत्ता हस्तांतरण के एक ऐसे दौर में जब रेडियो-प्रतिष्ठान कलुषित छवि वाली तवायफ़ों आदि को निकाल कर ख़ुद को निर्मल करने की मुहिम में लगने वाला था।[8] इस संदर्भ में अगर हम ऊपर उद्धृत प्यार और गृहस्थी वाले गाने को भी याद कर लें तो पूरा संदेश समझ में आ जाएगा। दिलचस्प है कि प्राण भी मधुबाला के रेडियो में काम करने

---

[8] अमृता दत्ता, 'फॉर द रिकॉर्ड', द *संडे एक्सप्रेस (2009)*, 24 मई, जो सबा दीवान की ख़ूबसूरत फ़िल्म 'द अदर सॉन्ग' की कहानी कहता है।

की ताईद करता है, जो एक तरह से प्रभुत्वशाली कांग्रेसी रेडियो विमर्श और रूढ़िवादी सामाजिक वर्जना की आलोचना है।[9] बाक़ी कहानी हमारे विश्लेषण के लिए ज़रूरी नहीं सिवाय यह जानने के कि मधुबाला का परिवार वापस जुड़ जाता है, जो कि विभाजन काल की फ़िल्म होने के लिहाज से सार्थक प्रसंग है। रेडियो ने उस वक़्त न जाने कितने लोगों को उनके खोए हुओं के बारे में सूचनाएँ देकर फिर से मिलाया होगा— संतानशुदा परित्यक्ता स्त्री की छवि तो उस दौर के इतिहास, साहित्य और फ़िल्मों का एक स्थायी प्रकरण है ही।

'अपराधी' हिंदुस्तान में प्राण साहब की शुरुआती फ़िल्मों में से एक थी। चूँकि लाहौर फ़िल्म उद्योग में वे बतौर नायक भी ख़ूब आते थे, यहाँ भी उनका चरित्र बेदाग़ ही नहीं बल्कि तरक़्क़ीपसंद प्रतिबद्ध देशभक्त भी है। इसके विपरीत 'बेवक़ूफ़' (1960) में वे बाक़ायदा अपने बाद की चिरपरिचित खलनायक की भूमिका में दीखते हैं, हालाँकि फ़िल्म हास्यरस-प्रधान है। नायक किशोर कुमार से प्राण कॉलेज के ज़माने से ही बॉक्सिंग रिंग सहित जीवन के हर मोड़ पर उलझता रहता है, और आख़िर में उसे हत्या के एक झूठे मामले में फँसा देने में कामयाब हो जाता है। किशोर के बचाव में उसका दोस्त सद्य:डिग्रीयाफ़्ता आय.एस. जौहर वकील बनकर उतरता है, जिसे साक्ष्य इकट्ठा करने के लिए जासूसी भी करनी पड़ती है। इसी सिलसिले में वह प्राण के अड्डे पर पहुँचता है जहाँ प्राण और झूठी गवाही देने वाले उसके साथी— एक बंगाली, एक मद्रासी और तीन युवतियाँ — अपना इनाम वसूलने और पार्टी करने के लिए इकट्ठे हुए हैं। उनके आने की आहट पाकर जौहर और उसकी दोस्त व सहयोगी कृष्णा विशालकाय रेडियोग्राम के पीछे छुप जाते हैं और उसका बिजली का तार खींच देते हैं, बग़ैर इसका ख़याल किये कि रेडियोकर्मियों की इस औचक भूमिका में उन्हें बहुभाषी, बहुरुचिसम्पन्न भारतीय श्रोताओं की क्षण-क्षण बदलती फ़रमाइशों को पूरा करना पड़ेगा। जाम छलकते हैं, पार्टी का समाँ तैयार है और वे किस तरह इस मुश्किल काम को अंजाम देते हैं उसे शब्दों में पेश करने की इजाज़त चाहूँगा, वैसे यह दृश्य यूट्यूब पर जाकर देखने लायक़ है :

मद्रासी : ज़रा गाना भी चलाओ जी, रेडियो लगाओ, हमारे मड्रास का गाना
दुनिया में फ़र्स्ट नंबर जी!
प्राण : अभी देखो दिल्ली से दिलदार हुसैन और मुन्नी बाई का ज़बर्दस्त
प्रोग्राम होने वाला है, सुनते ही फड़क जाओगे।
लगाऊँ दिल्ली? (नॉब घुमाता है) आँय...लाइट तो ऑन हुई नहीं
(पीछे से प्रत्युत्पन्नमति जौहर टॉर्च जला देता है)... हाँऽ देखा, थोड़ी
देर से ऑन होती है!
जौहर : (घबराहट में) ये ऑल इण्डिया रेलवे स्टेशन है, अब आप मुन्नीबाई से
ग़ज़ल पर तबले की थाप सुनेंगे।
कृष्णा : (घबराहट में) माफ़ कीजिए, इनका मतलब है आप दिलदार साहब और मुन्नी बाई से
.क़व्वाली की धुन में ठुमरी का ख़याल सुनेंगे। शुरू कीजिए दिलदार साहब!
जौहर : (गाता है) अरे हाँऽऽऽ दिलदार कमंदोंवाले का हर तीर जिगर से गुज़रे है
उड़-उड़ जाए होश हसीनों के मेरा यार जिधर से गुज़रे है(2)
(कृष्णा दुहराती है, पूरा गाना यूँ ही चलता है, पार्टी नाचने लगती है
करे जिस गली के फेरे, ज़ुल्फ़ें बिखेरे(2)
हर मनचले को चले मार मार मार, मेरा दिलदार....

[9] गंगाधर शुक्ल (2005), *वक़्त गुज़रता है : आकाशवाणी और दूरदर्शन के साठ साल*, सारांश प्रकाशन, दिल्ली : 15-16.

किसी दिल को ठोकर मारे, किसी को पुकारे
फ़ितने उठाता चले बार, बार बार, मेरा दिलदार....
बंगाली : अरे गुरु, कोलकत्ता लगाओ (जाकर नॉब घुमाता है)
जौहर : (उसी तर्ज़ पर गाते हुए) मोर गया रेऽऽऽ, तोमी कुछ करे
कृष्णा : नमी नमी रे, तमी रे
जौहर : आँय, कि कोरबे रे बाबा! जमुना सुचित्रा कानन उत्तम कुमारन
सब कोई भालो इस्टार टार टार, फ़िल्म इस्टार(2)
(दोनों छींकते हैं, और माफ़ी माँगते हैं)
दोनो : दिलदार कमंदोंवाले का हर तीर जिगर से गुज़रे है
उड़-उड़ जाए होश हसीनों के मेरा यार जिधर से गुज़रे है
मद्रासी : अजी मद्रास लगाओ जी
जौहर : अयइयोऽ अयइयोऽ पाटइल्लेऽ नालइल्ले तू गाऽ
कृष्णा : ना ना ना ना, तू गाऽऽऽ
जौहर : भानुमती पद्मिनी रागिनी शिवाजी गणेशन
जेमिनी वतन चेटियार, वेरी गुड यार
एक लड़की: नॉनसेन्स! सीलॉन लगाओ!
दोनों: ईनो ईनो ईनो, जल्दी ले लो ईनो
फिर ना होगा पेट का बुख़ार ख़ार ख़ार, मेरे दिलदार...
(फिर छींक और माफ़ कीजिएगा के साथ गाना ख़त्म, रेडियो भी ऐन वक़्त पर प्राण द्वारा बंद कर दिया जाता है!)

हमारे हिसाब से महत्त्वपूर्ण यह नहीं कि जौहर व कृष्णा को इस जासूसी के बाद झूठे गवाहों की असलियत पता चल जाती है; यह भी नहीं कि सिनेमाई फ्रेम में दो लोग वहीं पीछे बैठे रेडियो पर मन्ना डे और शमशाद बेगम की आवाज़ों में 'लाइव' गा रहे हैं, बाक़ायदा अनुपस्थित साज़ की संगत में, और हमें विश्वास करना है कि प्राण व साथियों को पता नहीं चलता है : हमें मानना है कि वे तो दारू के नशे में चूर हैं, चतुर जौहर और कृष्णा ने उन्हें बेवक़ूफ़ बना दिया है। हालाँकि छींकने, खाँसने, घबराहट में अगड़म-बगड़म बोलने से वे हमारा असम्भव भरोसा जीतने की कोशिश करते हैं कि देखो आख़िर इनका अपना झूठ छुपाते नहीं छुप रहा है। लेकिन ऐसा अंतत: इसलिए भी हो पाता है क्योंकि सिनेमा का पूरा कारोबार ही एक तरह से दर्शकों द्वारा अपने भरोसे और प्रश्नाकुल विवेक को स्वेच्छा से ताक पर धर कर देखने का नाम भी है। तो इस निरे यथार्थवादी पचड़े में न पड़ते हुए हमें ग़ौर यह करना चाहिए कि (क) हमें इस असंभव स्थिति को संभव बनाने की हास्यास्पद चेष्टा पर बेक़ाबू हँसी आती है, (ख) नानाविधभाषी भारतीय समाज की रेडियो से अपनी-अपनी अपेक्षाएँ हैं: इस तथ्य का महत्त्व फ़ील्डन के 1939 की रेडियो-रिपोर्ट में भी स्पष्ट है,[10] लेकिन सन् साठ तक

आते-आते क्षेत्रीय भाषाओं की अस्मिताई चेतना अपेक्षाकृत तीव्रतर, व्याकुलतर हो गयी हैं, ये हम जानते हैं, और फ़िल्म उसी को इंगित करने की कोशिश कर रही है, (ग) उत्तर भारत की हिंदुस्तानी बोलने वाला फ़िल्मी कलाकार जब दीगर भाषाओं से साक्षात्कार करता है तो उसकी घिग्घी बँध जाती है, और इस विपत्ति से राहत में उसका फ़िल्मी ज्ञान ही काम आता है, लिहाज़ा वह उन मशहूर तमिल और बांग्ला फ़िल्मी हस्तियों के नाम पिरोकर अपनी 'क़व्वाली' या ये जो कुछ भी है, जारी रखता है। दक्षिण की तरफ़ से सिनेमा ने आगे चलकर इसी ख़याल को 'एक दूजे के लिए' (1981) के गाने 'मेरे जीवन साथी' में भी सफलतापूर्वक भँजाया। सबसे महत्वपूर्ण आख़िरी बात, (घ) बांग्ला श्रोता की फ़रमाइश पर भले ही जौहर 'मोर गया रे' कहता हो लेकिन जैसे ही आधुनिका युवती इन सबको बकवास कहके रेडियो सीलॉन लगाती है, दोनों एक साथ ईनो के रेडियो विज्ञापन के साथ बेहिचक, बेधड़क चहक उठते हैं: 'ईनो ईनो ईनो, जल्दी ले लो ईनो', जो एक तरफ़ रेडियो सीलॉन की हिंदुस्तान में अप्रतिम लोकप्रियता का सबूत है तो दूसरी तरफ़ उस स्टेशन की व्यावसायिकता का प्रमाण भी। याद रहे कि इस फ़िल्म के रिलीज़ के वक़्त तक आकाशवाणी का पंचरंगी कार्यक्रम 'विविध भारती' तो क़ायम हो चुका था, लेकिन जैसा कि मैंने ऊपर अर्ज़ किया, उसका व्यवसायीकरण कोई सात साल बाद जाकर हुआ।

लेकिन जब हुआ तो फ़िल्मी गानों ने आकाशवाणी पर वापिस अपनी जड़ें जमा लीं। उनकी प्रसारण अवधि लगातार बढ़ती गई, लोगों ने झुमरी तलैया, यवतमाल और मजनूँ का टीला से बाक़ायदा लिस्नर्स क्लब बना-बनाकर थोक भाव से फ़रमाइशी ख़त लिखने शुरू कर दिये, रेडियो-प्रस्तोताओं से पारिवारिक रिश्ते क़ायम कर लिए, और रेडियो सीलॉन या विविध भारती के केंद्रों का दर्शन करने यूँ जाने लगे जैसे तीर्थ-यात्रा पर निकले हों।[11] इस तरह सिनेमा ने जनता की रेडियोप्रियता को अपनी ख़ुद की रेडियो-निर्भरता से एकमेक कर दिया। कालक्रम से तीन मिसालें लेते हैं : पहली, फणि मजुमदार की 'ऊँचे लोग' (1965) एक सम्भ्रांत सैनिक घराने के तीन भाइयों (अशोक कुमार, राजकुमार और फ़िरोज़ ख़ान) की कहानी है। फ़िरोज़ सबसे छोटा और दोनों का लाड़ला है, अभी पढ़ ही रहा है, तो उसके जन्म दिन पर उसके अग्रजद्वय एक ट्रांज़िस्टर तोहफ़े में देते हैं, जिसे पाकर वह झूम उठता है। उसे चलाना नहीं आता है। राजकुमार बैंड नम्बर वन का बटन दबाता है तो चित्रगुप्त के संगीत से सजे मजरूह के रुमानी बोल 'हाय रे तेरे चंचल नयनवाँ, कुछ बात करे रुक जाएँ, हाय रे तेरे चंचल नयनवाँ' लता की आवाज़ में गूँज उठते हैं। वह रेडियो लेकर बाग़ में चला आता है, और उसे अलग-अलग स्थितियों में रख कर कभी एक हाथ में, कभी दोनों से पकड़ कर, कभी दिल से लगाकर, कभी पेड़ पर तो कभी ठूँठ पर रख कर ग़ौर से गाना सुनते हुए एकल गीत को दोगाने में बदल देता है। फ़िरोज़ ख़ान की आवाज़ महेंद्र कपूर की है, लेकिन रिकॉर्डिंग और फ़िल्मांकन की चतुराई देखिए कि लगता है लता की आवाज़ तो रेडियो से आ रही है, लेकिन महेंद्र कपूर की फ़िरोज़ के होंठों से। और जैसा कि आम तौर पर किसी नये गाने को सुनते हुए दोहराने वाले के साथ होता है, वह मुखड़े का जो टेक होता है, वही साथ-साथ दुहरा पाता है, तो यहाँ भी वह है। गाना ख़त्म होने पर भी श्रोता फ़िरोज़ का दिल नहीं भरता, और वह रेडियो को चूमता है, और मुखड़े को दोहराना चालू रखता है, गोया उस ख़्वाब से बाहर निकलना उसे मंजूर नहीं। एक बात और— चूमने की वजह

---

[10] लायनेल फ़ील्डन (1940), *रिपोर्ट ऑन द प्रोग्रेस ऑफ़ ब्रॉडकास्टिंग इन इण्डिया,* गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया प्रेस, शिमला.

[11] सन् 1977 से प्रकाशित हरमिंदर सिंह हमराज़ (सम्पा.), *रेडियो न्यूज़ और लिस्नर्स बुलेटिन,* कानपुर में ऐसे कई तीर्थ-यात्रा वृत्तांत दर्ज हैं. लेकिन कई अन्य शहरों से भी श्रोता समूहों के ऐसे क्लबों के दस्तावेज़ मिलते हैं. मिसाल के तौर पर झुमरीतलैया की रेडियो-प्रसिद्धि पर छपी एक दिलचस्प रपट के लिए देखें : अनुराग कश्यप, 'कोई लौटा दे मेरे बीते हुए दिन', *अहा ज़िंदगी* (2008), अप्रैल : 16-18.

शायद यह भी हो सकती है कि उसने गाने के दौरान अपनी माशूक़ा का चेहरा रेडियो के 'पर्दे' पर भी देखा था— अपने आप में हास्यास्पद लग सकती है लेकिन अगर हम सिने-गीतों को पर्दे पर और फिर पर्दे से बाहर सराहने की अपनी हरकतों की फ़िल्म मन में चलाएँ तो याद आ जाएगा कि हमने उन गानों पर भी कोई न कोई अपना चेहरा चस्पाँ किया है, जिन्हें हमने देखा नहीं, सिर्फ़ सुना भर है। कुछ-कुछ वैसे ही जैसे हम किसी उपन्यास में वर्णित किसी अपरिचित भूगोल को पढ़ते हुए उस पर अपनी याद का कोई भूगोल 'सुपरइम्पोज़' कर लेते हैं।

ट्रांज़िस्टर की ऐसी ही अद्भुत पोर्टेबिलिटी या साचल्य का अगला दृश्य 'आन-बान' (1972) से है। रेल की प्रथम श्रेणी के एक ही कूपे में राखी और राजेंद्र कुमार जा रहे हैं। कुमार का दोस्त जगदीप छोड़ने आता है, अपनी भाषा में कहता है कि अंदर ख़ूबसूरत लड़की उसकी हमसफ़र है। ख़ुद को स्मार्ट समझने वाला कुमार कोरे गप्प हाँककर राखी को प्रभावित करना चाहता है, लेकिन वह उसे 'बोर' घोषित करती है। कोई न कोई बहाना करके वह उससे बात करना चाहता है, खाना पेश करता है, पढ़ने के लिए *टाइम* पत्रिका भी, लेकिन नायिका उसे घास नहीं डालती। आख़िर में वह ऊब कर रेडियो चला देता है, जिस पर पहले एक विज्ञापन आता है : 'बिमला, तुम्हारे वो चले गये? आओ न गपशप करें, मैं कॉफ़ी बना रही हूं, नेस्कैफ़े!' फिर मौक़े के मुताबिक़ आमंत्रण देते गीत की पहली पंक्ति : 'जब तुम हो मेरे हमसफ़र ख़ूबसूरत, तो है ज़िन्दगी का सफ़र ख़ूबसूरत', और फिर अमीन सयानी की आवाज़ : ये मैं नहीं कह रहा हूँ, मोहम्मद रफ़ी कह रहे हैं, और गाना चल पड़ता है :

मुझे देखकर यूँ न ग़ुस्से में आ,
मिलें ना मिलें फिर ज़रा मुस्कुरा(2)
है चेहरे पे ग़ुस्सा, मगर ख़ूबसूरत, जब तुम हो मेरे....

कुमार गाना सुन रहा है, रात का वक़्त वह भी तेज़ आवाज़ में, और आँखों ही आँखों में गाता जाता है, गोया मूक शालीनता को 'आकाश-वाणी' का वरदान मिल गया हो! राखी परेशान हो रही है, तकिये से कान ढँकती है; अंतराल संगीत की ताल रेल के पहियों की गतिमानता को ताल देती मालूम पड़ती है, उठ-बैठी राखी पाती है कि अनायास उसके पाँव धुन पर हिलने लगे हैं, हठात संयत हो जाती है कि कहीं कुमार तक ग़लत संदेश न चला जाए। उसे गाना बंद करने की गुहार लगाती है, तकिया मारती है, पर सब बेअसर देखकर बाहर निकल जाती है, लेकिन पाती है कि मोहम्मद रफ़ी से बच निकलना मुमकिन नहीं। बाहर गलियारे में एक और बंदा, गुलशन बावरा, अपने गले में फ़िलिप्स का सेट लटकाये वही गाना टॉयलेट से सुनता निकलता है। राखी को देखकर सिगरेट उसके मुँह से नीचे गिर जाती है। दिलचस्प है कि वह भी गा तो नहीं रहा है, लेकिन लड़की की शान में जो दैहिक क़सीदे पढ़े जा रहे हैं:

चमकते हैं गालों में उजले सवेरे,
बहकते हैं बालों में दिलकश अँधेरे,
है फूलों सी नाज़ुक कमर ख़ूबसूरत, जब तुम हो मेरे...

उन्हें वह साथ-साथ आँखों और इशारों से गाता मालूम होता है। कूपे के बाहर गाने की तर्ज़ पर इस अपरिचित से छिड़ने से बेहतर कुमार की सोहबत में लौटना निरापद समझती है राखी। अंदर आकर देखती है कि कुमार गाना सुनते-सुनते सो गया है, तो वह मौक़ा पाकर उसका मर्फ़ी सेट बंद कर देती है, पर मज़े की बात है कि जैसे ही गाना बंद होता है, कुमार गोया नींद में ही उस गाने को या यूँ कहें संगीतमय स्वप्न को जारी रखते हुए गाते रहता है। मासूमियत का ढोंग करता हुआ कुमार दरअसल जगा ही हुआ है। आँखें बंद किये ही कहता है, 'कल सुबह जल्दी जगा दीजिएगा मुझे, गाड़ी छोड़ने से पहले मैं आपको एक ख़ूबसूरत भजन सुना दूँगा।' रेडियो से हमारी दूसरी मुलाक़ात इस गाने के साथ होती है, 'मेरे सामने वाली खिड़की में एक चाँद का टुकड़ा रहता है/अफ़सोस है

ये कि वो हमसे कुछ उखड़ा-2 रहता है'। अमीन सयानी की आवाज़ : किशोर कुमार से अभी आपने किसी पड़ोसन के बारे में सुना, अब सुनिये ...' पर कुमार रेडियो बंद कर देता है। यह कहते हुए कि 'अब क्या सुनेंगे', क्योंकि उसकी छत के सामने वाली पड़ोसन राखी उसकी 'बदतमीज़ियों' से तंग आकर अंदर भाग चुकी है।

ये दोनों प्रसंग रेडियो के लोकप्रिय इस्तेमाल की तरफ़ हमारा ध्यान खींचते हैं। एक तरफ़ तो मनोहर श्याम जोशी की स्थापना याद आती है कि हमारे प्यार के अहसास को उर्दू अदब और फ़िल्मों ने बोल दिये, जिसका दिलचस्प मुज़ाहिरा *क़सप* जैसे उपन्यास में अगर मुसलसल विन्यस्त है, तो *चमेली की शादी* (1986) जैसी तमामतर फ़िल्मों में भी। दूसरी तरफ़ सभ्य समाज का यह चिरंतन आरोप भी सुनने लायक़ है कि मनचले युवक फ़िल्मी गानों का इस्तेमाल लड़कियों को छेड़ने के लिए करते हैं, जिसकी साहित्यिक पुष्टि रेणु की मशहूर कहानी 'पंचलैट' से भी होती है। लेकिन 'पंचलैट' में नायक जिस तरह जाति की इज़्ज़त बचाके गाना गाने का लायसेंस नायिका के पिता से हासिल करता है, उसी तरह *आन-बान* में भी कुमार गाना जारी रखता है, और आख़िर में दोनों में मोहब्बत हो जाती है। 'चमेली की शादी' में एक और आयाम इस तरह जुड़ता है कि छोटे शहर में कोयला डिपो के मालिक पंकज कपूर की चार बार फ़ेल होने वाली बेटी अमृता सिंह अपने पहलवानी संस्कारों से मुक्ति पाए और थर्ड डिवीज़न में हायर सेकंड्री पास हुए अनिल कपूर से इश्क़ तो करती है लेकिन दोनों ही एक-दूसरे को ख़त लिखने भर भी साक्षर महसूस नहीं करते, लिहाज़ा अपने-अपने दोस्तों से ख़त लिखवाते हैं, पर एकांत क्षणों में फ़िल्मी गीतों में ही अपने मन के भावों की व्यंजना पाते हैं। इसीलिए जब अमृता की माँ उसे कमरे में बंद करके उसे घर के रेडियो से महरूम कर देती है तो सबसे ज़रूरी तोहफ़ा उसका आशिक़ अपनी जान पर खेलकर एक छोटे ट्रांज़िस्टर के रूप में ही देता है, जिसे वह फेरीवाले बने एक दोस्त की मदद से डोरी के ज़रिए ऊपर पहुँचाता है। अब इस प्रसंग को उन्नीसवीं सदी में जन-मन-रंजन साहित्य और औरतों को उसे पढ़ने की मनाहियों और उन मनाहियों के उल्लंघन के इतिहास के अगल-बग़ल रख कर देखें तो मेरा आशय स्पष्ट हो जाएगा कि जिस तरह किताबों के अलग-अलग इस्तेमाल रहे हैं, और उन पर पाबंदियाँ रही हैं, उसी तरह सिनेमा और रेडियो, विशेषकर फ़िल्मी गीतों पर भी और किताबों की तरह ही फ़िल्मों को इज़्ज़त हासिल करने के लिए संघर्ष करना पड़ा है।[12] तभी तो कुमार आख़िर में भजन सुनाने की बात करता है, जो एक तरह से उसके शरीफ़ और बाइज़्ज़त होने की दरख़्वास्त की तरह है, बल्कि उसके और रेडियो दोनों के।

'आवाज़ की दुनिया के दोस्तो'

इस दास्तान को हम वैसे तो अपने ज़माने की फ़िल्मों— 'दिल से' (1998), 'सलाम नमस्ते' (2005), 'रंग दे बसंती' (2006) और 'लगे रहो मुन्ना भाई' (2006) तक खींचकर ला सकते हैं, जिसमें सिनेमा ने रेडियो के बदलते रंग-रूप और उसके प्रति बदलते नज़रिये का दृश्यांकन करने की दिलचस्प चेष्टा की है। मसलन, यह पहले ही झटके में दीख जाता है कि साठ, सत्तर और अस्सी के दशक तक की रेडियो-फ़िल्मों में शायर-गायक-कलाकार ही मुख्य भूमिकाओं में होते थे, लेकिन एफ़एम के अहर्निश ज़माने में अब 'रेडियो जॉकी' भी महत्वपूर्ण हो चला है। दूसरी बात, 'मिली' (1975)

---

[12] फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2009), *प्रिंट ऐंड प्लेज़र : पॉप्युलर लिटरेचर ऐंड एन्टरटेनिंग फ़िक्शंस इन कोलोनियल नॉर्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

अमीन सयानी साहब 'आवाज़ की दुनिया के दोस्तों' का भी इस्तेमाल करते हैं अपने सुनने वालों के लिए। शायद दिलचस्प है यह जानना कि उनके नक़्शेक़दम पर चलते हुए रेडियो सीलॉन के उद्घोषक बने गोपाल शर्मा ने अपनी आत्मकथा का शीर्षक यह सम्बोधन ही रखा।

जैसी फ़िल्म में कौतुक में उठाया गया संजीदा सवाल 'ये ऑल इण्डिया रेडियो क्या तुमहारे बाप का है?' शायद अब तक या तो राजनीतिक तौर पर अनुत्तरित है या 'रंग दे बसंती' जैसे रोंगटे खड़े कर देने वाले उपसंहार में जवाब पाता है, जब जनता से सीधा संचार करने की कोशिश में सरकारी रेडियो के गलियारों में अनाधिकार घुसने की आमिर ख़ान व साथियों की कोशिश का अंजाम अनाम, बेचेहरा कमांडो–कर्मियों के हाथों भून दिये जाने में सम्पन्न होता है! हमने खलनायकों के हाथों रेडियो की तोड़–फोड़ की बहुत बातें की हैं लेकिन रेडियो परिसर में सरकारी हिंसा का यह रूपांकन तो दहला देने वाला है।[13] इस प्रसंग में हमें याद रखने की ज़रूरत है कि समाचार–वाचन, हॉकी या क्रिकेट का 'आँखों देखा हाल' सुनाने पर आकाशवाणी की इजारेदारी रही है, गोकि अपनी विश्वसनीयता बनाये रखने के लिए उसे 'बीबीसी हिन्दी या उर्दू' जैसी सेवाओं से मुक़ाबला करना पड़ा है, बाज़ मौक़ों पर मुँह की भी खानी पड़ी है और ऐसे नानाविध दृश्य–प्रसंग हमें सिनेमा से पर्याप्त मिक़दार में हासिल हो सकते हैं।[14] मसलन, 'इत्तेफ़ाक़' (1969) में अपनी पत्नी की हत्या करने के आरोपी राजेश खन्ना के पागलख़ाने से भागने की ख़बर उसके हुलिए के साथ बयान की गयी है तो 'द बर्निंग ट्रेन' (1980) में रेडियो की मदद से जलती हुई सरपट भागती ट्रेन के यात्रियों से संवाद क़ायम करके उन्हे बचा पाना संभव होता है। बांग्ला फ़िल्म 'देया–नेया' (1966) पर बनी शक्ति सामंत की हिंदी फ़िल्म 'अनुरोध' (1971) में एक रेडियो गायक अपने कवि दोस्त को टीबी की बीमारी से बचाने के लिए धन और दुआएँ इकट्ठी करता है।[15] यानी सिनेमा ने रेडियो के जन–कल्याणकारी पक्ष को भी रेखांकित किया है, और यह बात हम औपनिवेशिक ज़माने के बारे में भी कह सकते हैं, जिसकी चर्चा फ़िल्म 'दुश्मन' के ज़रिए की जाएगी, जिसमें मोहन बने सहगल साहब को भी क्षयरोग हो जाता है, और जिसमें वह अपने सुनने वालों से 'आवाज़ की दुनिया के दोस्तो' के सम्बोधन से सीधे तौर पर, बग़ैर किसी उद्घोषक की मध्यस्थता के, मुख़ातिब होता है, और बार–बार होता है। संयोगवश, 'अनुरोध' में इस सम्बोधन की भी वापसी होती है।

लेकिन चूँकि हिंदी सिनेमा ने आख़िरकार रेडियो जॉकी को आख़िरकार नायकत्व देकर उनका

---

[13] 'रंग दे बंसंती' के मेरे एक पुराने विश्लेषण के लिए देखें, 'युवाओं के बदलते मूल्य : मस्ती की पाठशाला?', http://www.rachanakar.org/2006/06/blog-post_25.html.

[14] देखें, संजय शर्मा, 'बीबीसी की तरंगों पर उड़ते उड़ाते', जो रविकान्त व संजय शर्मा (सम्पा.), दीवान–ए–सराय 01: मीडिया विमर्श://हिंदी जनपद में उपलब्ध है, 98–102.

[15] 'अनुरोध' यानी 'फ़रमाइश' : इस एक लफ़्ज़ में फ़िल्मी गीतों की सुनने की संस्कृति का कितना लम्बा और गहरा इतिहास पैबस्त है, बताने की ज़रूरत नहीं.

मान बढ़ा दिया है तो क्यों न थोड़ी चर्चा उनके ऐतिहासिक रिश्ते की हो जाए। हम सब जानते हैं कि दक्षिण एशिया में रेडियो जॉकी शिरोमणि अगर कोई है तो अमीन सयानी हैं, जिनकी 'रेडियो-दोस्ती' सीलॉन से शुरू होकर विविध भारती से होते हुए 91.1 एफ़एम तक निर्बाध जारी है, और जिनके पेशेवर व्यक्तित्व में सिनेमा और रेडियो का संगम हो जाता है, क्योंकि उन्होंने हिंदी फ़िल्म संगीत प्रेमियों— 'बहनो और भाइयो'— को न सिर्फ़ (बिनाका/सिबाका) गीतमाला का दशकों तक चलने वाला रिकॉर्ड-तोड़ धारावाहिक हफ़्तावार तोहफ़ा दिया, बल्कि फ़िल्मों का रेडियो पर विज्ञापन भी किया और फ़िल्मी सितारों व संगीतकारों-गायकों के साथ देश-विदेश में अनगिनत स्टेज शो तो किये ही और आज भी अपने रिकॉर्डेड इंटरव्यू के ख़ज़ाने से अनमोल मोती निकाल कर उन्हें फ़िल्मी गीतों में पिरोकर पेश किये जा रहे हैं। यूट्यूब के आदी ये जानते होंगे कि अमीन सयानी 'भूत बंगला' (1965) में बतौर उद्घोषक मौजूद हैं; हालाँकि हँसा-हँसा कर डराने का इरादा रखने वाली ये फ़िल्म निहायत चौपट है, पर इसमें और ढेर सारी अन्य फ़िल्मों में सयानी साहब की आवाज़ बेहद असरदार है।[16] अमीन सयानी साहब 'आवाज़ की दुनिया के दोस्तो' का भी इस्तेमाल करते हैं अपने सुनने वालों के लिए। शायद दिलचस्प है यह जानना कि उनके नक़्शेक़दम पर चलते हुए रेडियो सीलॉन के उद्घोषक बने गोपाल शर्मा ने अपनी आत्मकथा का शीर्षक यह सम्बोधन ही रखा।[17] और उससे भी ज़्यादा संतोषप्रद किसी इतिहासकार के लिए यह खोज पाना है कि बेहद सृजनशील इस 'आवाज़ की दुनिया के दोस्तो' सम्बोधन का पहला फ़िल्मी इस्तेमाल 'दुश्मन' में हुआ था। फ़िल्म 'दुश्मन' (न्यू थिएटर्स, 1939) का आग़ाज़ ही गायक-नायक— उस ज़माने में अलहदा पार्श्वगायन आम नहीं था, हालाँकि 1935 से इसकी शुरूआत हो चुकी थी— सहगल द्वारा अपनी दोस्त को ये समझाने से होता है कि वह 1000 रुपये माहवार कमाना चाहेगा, जिसमें से 200 रेडियो से आ जाते हैं, जिसके 400 होने की संभावना है, बाक़ी के 600 उसे ग्रामोफ़ोन कम्पनी से पैदा करने होंगे। तभी उसे याद दिलाया जाता है कि रेडियो के लिए देरी हो रही है। उधर रेडियो डायरेक्टर सहगल पर लाल-पीला हो रहा है, और उसे 'डिस्मिस' कर देता है। लेकिन जिस गायक को उसकी जगह पर गवाया जा रहा है, वह उतना प्रभावी नहीं, और वह मुखड़े की पहली पंक्ति ही गा पाता है, लेकिन दूसरी के दौरान सहगल जबरन रिकॉर्डिंग रूम में घुस कर उसका मुँह बंद कर देता है, और उसी दूसरी पंक्ति को अपनी आवाज़ में दुहराता है, ताकि निरंतरता बनी रहे। फिर बेचारे नये गायक को जबरन बिठा देता है: इस हाथापाई के दौरान जो 'एयरटाइम' ख़ाली होता है, उसे साज़िंदे सहगल के आ जाने की ख़ुशी में अतिरिक्त जोशो-ख़रोश से भरते हैं। सहगल माइक पर आकर कहता है :

> *आवाज़ की दुनिया के दोस्तो....मुझे देर हो गई, इसके लिए मुझे अफ़सोस है, मैं आपसे माफ़ी माँगता हूँ लेकिन आज मैं बेहद ख़ुश हूँ इसलिए आपको एक ऐसा गीत सुनाऊँगा, जैसा कि पहले कभी नहीं सुनाया, और मुझे यक़ीन है आप इसे सुन कर ख़ुश होंगे और मैं इसे गाकर ख़ुश हूँगा। (साज़िंदों से) रेडी...1...2...3 (वह गाता है) : मन दर्पण है जग सारा, जग अँधियारा...*

तो ये था 'आवाज़ की दुनिया के दोस्तो' नामक जादुई मुहावरे का एक आदि प्रयोग। आपने ग़ौर किया होगा कि वक़्त की पाबंदी भी रेडियो के संदर्भ में एक मुद्दा है, जो 'अनुरोध' में भी यूँ दर्ज होता है कि राजेश खन्ना की लेट-लतीफ़ी से लखनऊ रेडियो स्टेशन के पदाधिकारी असित सेन भी परेशान रहते हैं। इस मामले में रेडियो के अंदर और बाहर के लोग रेडियो की क़समें खाते नहीं थकते,

---

[16] इसकी एक और ख़ासियत है कि इसमें महमूद के साथ राहुल देव बर्मन ने भी अभिनय के करतब दिखाने की कोशिश की थी.

[17] लेखक-प्रकाशक गोपाल शर्मा, मुंबई, 2007.

बल्कि आज भी यदा-कदा रेडियो-उद्घोषक आपको अपनी घड़ी स्टूडियो की घड़ी से मिलाने की अपील करते मिलेंगे। ऐसा पहले तो ख़ैर बहुत होता था। बक़ौल गंगाधर शुक्ल, रेलवे से ज़्यादा रेडियो की घड़ी को विश्वसनीयता हासिल थी। हम कह सकते हैं कि रेडियो ने सितारों की आसमानी चाल से रात में और भीत की परछाईं से दिन में वक़्त तय करने वाले अनपढ़ों के इस महादेश में गिरिजाघर के घंटे और मिल के सायरन के बाद वक़्त को मध्यकालीन पहर की बड़ी इकाई की अभ्यस्तता से निकालकर घंटे-मिनट-सेकंड की आधुनिक इकाइयों से रूबरू कराया। अपनी मुस्तैद और रचनात्मक प्रोग्रामिंग के ज़रिए इसने आधुनिक शहराती श्रोताओं को पारम्परिक पंचांगों के ख़ासम-ख़ास मौक़ों, जैसे कि धार्मिक या राष्ट्रीय पर्वों से, कुछ ऐसी रोज़ाना की आत्मीयता से जोड़ा कि उन्हें आधुनिक जीवन-शैली, और उसमें वक़्त के अनुशासन की अहमियत का आहिस्ता-आहिस्ता अहसास होने लगा। फ़िल्मी गानों ने इसमें रेडियो की भरपूर मदद की : याद कीजिए किशोर कुमार का वह गाना, 'खुश है ज़माना आज पहली तारीख़ है' जो रेडियो सीलॉन से हर पहली तारीख़ को सुबह-सवेरे बजते हुए उसका और वेतनभोगी कर्मजीवियों का सिग्नेचर-ट्यून बन गया था। हिंदी फ़िल्मों ने अख़बारों का इस्तेमाल अगर कहानी को साल विशेष या दिन में अवस्थित करने के लिए किया, तो रेडियो का घंटा, मिनट या सेकंड बताने के लिए। एक मिसाल तो फ़िल्म 'बेमिसाल' से ही है, जिसमें अमिताभ राखी से मिलने किरण फूटने की वेला में, अलस्सुबह आता हुआ दीखता है। लेकिन इस आने के दौरान दर्शक रेडियो-स्टेशन खुलने की आवाज़ भी सुनते हैं, और राखी जब तक तैयार होकर बाहर निकलती है, वह उस पर अपनी घड़ी देखते हुए पाँच मिनट देर से आने का इलज़ाम लगाता है, और वह माफ़ी माँगती है।

वापिस 'दुश्मन' पर लौटते हुए, सहगल को बीमारी के चलते गाने की मनाही हो गयी है, लेकिन वह रेडियो स्टेशन पहुँच ही जाता है, माइक से कहता है :

> *आवाज़ की दुनिया के दोस्तो : फ़र्ज़ कीजिए कि किसी की ख़ुशी की दुनिया बर्बाद हो चुकी हो और जहाँ तक उसकी निगाह जाती हो उसे अँधेरे की निराशा और निशा के अँधेरे के सिवा कुछ नहीं दिखाई देता। ऐसे वक़्त में उसे क्या करना चाहिए? मेरा ख़याल है कि (गाने लगता है) : 'करूँ क्या आस निरास भई',*

जो 'कहो ना आस निरास भई, कहो ना आस निराऽ' पर जाकर ख़त्म हो जाता है। अचानक। दृश्य कटके सहगल-गीता के मिलन-स्थल पर पहुँचता है, जहाँ सहगल का एक प्रशंसक साज़िंदा अक्सर उनसे थोड़ी दूरी बना कर अपनी वायलिन बजाता है : तो कैमरा उसके टूटे तार को दिखाता है, जिसकी पुष्टि सहगल यह कहकर करता है कि 'अब नहीं बजेगा'। गीता उसी पुराने स्वप्न-संगीत को फिर से बजाने का इसरार करती है, लेकिन सहगल कहता है कि 'सपनों का ज़माना गुज़र गया'। दरअसल सहगल को पता चल गया है कि उसे सख़्त बीमारी है और उसे गीता से अब शादी की बात आगे न बढ़ाते हुए दूरी बनानी चाहिए। उसका दोस्त, डॉक्टर और रक़ीब उसे शहर छोड़ देने, और हवा बदलने की सलाह देता है। रेडियो स्टेशन से उसका आख़िरी संबोधन :

> *आवाज़ की दुनिया के दोस्तो, आवाज़ की दुनिया के दोस्तो, कल मैं छुट्टी पर जा रहा हूँ इसका मुझे दुःख है, शायद आप लोगों को भी*
> *इसका दुःख हो। काश ये जुदाई की घड़ी टल जाती। लेकिन होनहार को मिटाना आदमी की ताक़त से बाहर है, और मैं भी आदमी हूँ।*
>
> *गीता (रेडियो सुनते हुए) : तू मुझे समझ नहीं सके, तुम मुझे बिल्कुल न समझ सके!*
> *गीत : प्रीत में है जीवन जोकों*
> *कि जैसे कोल्हू में सरसों*
> *वो सुहानी चंचल बालक लड़काई दिखलाए*

हाथ से बैठा गढ़े खिलौने, पाँव से तोड़त जाए
वो तो है एक मूरख बालक, तू तो नहीं नादान
आप बनाए आप मिटाए ये नहीं तेरी शान, ये नहीं तेरी शान...
(बेसम्हार खाँसी ... तमाम सुनने वालों का घबरा जाना। बताने की ज़रूरत नहीं कि ये गीत दुनिया बनाने वाले को ठेठ देसी ज़बान में उलाहना दे रहा है।)

सहगल की आख़िरी रेडियो पेशकश सैनेटोरियम से होती है, जहाँ 'ऐंटी-टीबी एसोसिएशन' एक प्रसारण इकाई तपेदिक के बारे में जन-जागरण फैलाने के लिए लगाता है। वैसे भी यह फ़िल्म स्वच्छता और संक्रमण से बचाव को लेकर सचेत रहने की बात अन्यत्र यूँ करती है कि बीमार सहगल एक रेस्त्राँ में जाकर शर्बत पीता है लेकिन उसे यह अहसास भी हो जाता है कि उसके जूठे गिलास से किसी और को छूत लग सकती है। लेकिन जब उस गिलास की शिनाख़्त नहीं हो पाती तो वह काउंटर पर सजे सारे गिलासों को ज़मीन पर गिराकर नेस्तनाबूद कर देता है। इस लिहाज़ से स्वास्थ्य-लाभ कर चुके और 'मुझे रेडियो से इश्क़ है' का मंत्र जपने वाले सहगल से बेहतर राजदूत कौन हो सकता था; संक्रमण का ख़तरा उठाये बिना अपनी आवाज़ को अपने चाहने वालों तक पहुँचाने का रेडियो से बेहतर ज़रिया क्या हो सकता था :

आवाज़ की दुनिया के दोस्तो(3)! काश कि मैं बता सकता कि इस वक़्त मेरे दिल की क्या हालत है मगर ये मुश्किल है लेकिन मैं इतना कह सकता हूँ कि जिस दिन मैं यहाँ आया था उस दिन मौत मेरे सामने खड़ी थी और आज मैं पूरा तंदुरुस्त हूँ और मेरे सामने...और मेरे सामने...(वह पास पड़े अख़बार में देखकर रुक जाता है...उसमें गीता की होने वाली शादी की ख़बर छपी है.... गीता अपनी गाड़ी में सुन रही है। अंततः गाता है) : प्यारी-प्यारी सूरतो, मोहिनी मूरतो....मदद करो, मदद बिना कैसे पहुँच पाएँगे....मदद करो...

ज़ाहिर है कि गाने में एक छुपा संदेश है गीता के लिए। सहगल गीता को मुबारकबाद देने के लिए दो दिन की छुट्टी माँगता है डॉक्टर से, लेकिन वह सुबह जाने का आदेश देता है। प्रसारण से सबको सहगल के सैनेटोरियम में होने की ख़बर हो जाती है। रात ही में गीता अपनी मँगेतर के साथ मोहन से मिलने के लिए सैनेटोरियम की राह पर है कि दुर्घटना हो जाती है, उसी अस्पताल में आती है, डॉक्टर सहगल को बुरी ख़बर देता है, लेकिन उसकी आवाज़ सुनते ही गीता को होश आ जाता है। सीनियर डॉक्टर दोनों का सुखद मिलन करवा देता है। सम्बोधन की प्रत्यक्षता के अलावा दो छोटी-छोटी चीज़ें दिलचस्प हैं: सहगल और गीता के मिलन-स्थल पर जब भी वह वायलिनवाला

हस्बेमामूल हाज़िर होता है तो सहगल उसे बीस क़दम की दूरी पर रहकर संगत देने कहता है, जो मेरे ख़याल से पर्दादारी की चाहत से इतर उस समय के फ़िल्मांकन की रिवायत की ओर भी इशारा करता है, जब साज़िंदे झाड़ियों में छुपकर बजाते थे ताकि सीन साथ में रिकॉर्ड हो जाये लेकिन वे कैमरे से ओझल भी रहें।

निष्कर्ष

पाठकों पर ज़ाहिर हो गया होगा कि कई दशकों को अपने दामन में समेटता, कहीं तफ़सील में, तो कहीं मुख़्तसर विश्लेषण करता यह लेख सिनेमा और रेडियो के दो अलहदा-से लगते, पर हक़ीक़तन आपस में नत्थम-गुत्था माध्यमों के इतिहास को साथ लाने का उपक्रम है, और पारम्परिक रेडियो इतिहासों से प्रस्थान भी जो कि ज़्यादातर सांस्थानिक और राष्ट्रवादी प्रयास रहे हैं, या फिर रेडियोकर्मियों या श्रोताओं की आत्मकथाओं में क़ैद रहे हैं, जिन्हें आज़ाद करके अविभाजित दक्षिण भारत के नये इतिहास में दाख़िल किया जाना चाहिए। इस नये इतिहास के प्रेरणास्रोत एक तरफ़ मीडिया-तकनीक के बुनियादी क्षणों का पड़ताल करतीं ब्रायन लार्किन जैसे विद्वानों की किताबें हो सकती हैं, तो दूसरी तरफ़ जॉनाथन स्टर्न जैसों की जिसमें श्रव्याचार के सांस्कृतिक विकास की कहानी तकनीकी इतिहास से लगातार संवाद करती चलती है।[18] अपने यहाँ भी औपनिवेशिक रेडियो के प्रचारतंत्र[19] या फिर उसकी भाषा-नीति को समझने की दिशा में भले ही छिटका-छाँव पर कुछ अच्छी कोशिशें हुई हैं, उत्तर-औपनिवेशिक रेडियो की नीति पर भी कुछ आलोचनात्मक लेखन मिल जाता है, लेकिन चूँकि सिनेमा दक्षिण एशिया में संगीत का सबसे बड़ा स्रोत या ज़ख़ीरा रहा है, और ग्रामोफ़ोन, रेडियो व बाद में टेलिविज़न के ज़रिए सिने-सामग्री को सुनने-देखने-सराहने का ज़रिया भी, तो मुझे इसके मनोरंजन-पक्ष पर बल देना ज़रूरी लगा। इससे जुगलबंदी करने वाला लेख तो 'रेडियो में सिनेमा' नाम से ही लिखा जा सकता है, लेकिन उसके लिए थोड़े वक़्फ़े की इजाज़त!

संदर्भ

अनुराग कश्यप (2008), 'कोई लौटा दे मेरे बीते हुए दिन', *अहा ज़िंदगी* , अप्रैल.

अमृता दत्ता (2009), 'फॉर द रिकॉर्ड', *द संडे एक्सप्रेस* , 24 मई.

गंगाधर शुक्ल (2005), *वक़्त गुज़रता है : आकाशवाणी और दूरदर्शन के साठ साल,* सारांश प्रकाशन, दिल्ली.

जॉनाथन स्टर्न (2003), *द ऑडिबल पास्ट : कल्चरल ओरिजिंस ऑफ़ साउंड प्रोडक्शन,* ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डर्हैम, लंदन.

जोसलिन ज़िविन (2013), 'द इमैजिंड रेन ऑफ़ आयरन लेक्चरर : विलेज ब्रॉडकास्टिंग इन कोलोनियल इण्डिया', रवि सुंदरम (सम्पा.), *नो लिमिट्स : मीडिया स्टडीज़ फ्रॉम इण्डिया,* .

फ्रंचेस्का ऑर्सीनी (2009), *प्रिंट ऐंड प्लेज़र : पॉप्युलर लिटरेचर ऐंड एन्टरटेनिंग फ़िक्शंस इन कोलोनियल नॉर्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ब्रायन लार्किन (2008), *सिग्नल ऐंड न्वॉयज़ : मीडिया, इन्फ्रास्ट्रक्चर ऐंड अर्बन कल्चर इन नाइजीरिया,* ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डर्हैम, लंदन.

---

[18] ब्रायन लार्किन (2008), *सिग्नल ऐंड न्वॉयज़ : मीडिया, इन्फ्रास्ट्रक्चर ऐंड अर्बन कल्चर इन नाइजीरिया,* ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डर्हैम, लंदन; जॉनाथन स्टर्न (2003), *द ऑडिबल पास्ट : कल्चरल ओरिजिंस ऑफ़ साउंड प्रोडक्शन,* ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डर्हैम, लंदन.

[19] जोसलिन ज़िविन (2013), 'द इमैजिंड रेन ऑफ़ आयरन लेक्चरर : विलेज ब्रॉडकास्टिंग इन कोलोनियल इण्डिया', रवि सुंदरम (सम्पा.) *नो लिमिट्स : मीडिया स्टडीज़ फ्रॉम इण्डिया* में ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 277-99.

मैट रहेम (2011), 'दैट बेन(बैन) ऑफ़ इंडियन म्यूज़िक : हियरिंग पॉलिटिक्स इन द हारमोनियम', द *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 70, अंक 3 (अगस्त).

'युवाओं के बदलते मूल्य : मस्ती की पाठशाला?', http://www.rachanakar.org/2006/06/blog-post_25.html.

रविकांत,(2011) 'हिंदी फ़िल्म अध्ययन : माधुरी का राष्ट्रीय राजमार्ग', *लोकमत समाचार दीप भव*:.

—'अपुन का मंटो : पाकदिल, सियाहक़लम, अपूर्व, अप्रतिम, अखण्ड': http://kafila.org/2012/09/16.

—'भाषा का सवाल : फ़िल्मी सदी का पैग़ाम', *नया पथ* (2013), *हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ बरस,* जनवरी-जून, 2013.

—(2011), 'सिनेमा, भाषा, रेडियो : एक त्रिकोणीय इतिहास', *कथादेश* जुलाई.

लायनेल फ़ील्डन (1940), *रिपोर्ट ऑन द प्रोग्रेस ऑफ़ ब्रॉडकास्टिंग इन इण्डिया,* गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया प्रेस, शिमला.

स'आदत हसन मंटो, 'आओ रेडियो सुनें', शरद दत्त व बलराज मेनरा (सम्पा.) *दस्तावेज़ मंटो,* खण्ड 3 : 59-66.

संजय शर्मा, 'बीबीसी की तरंगों पर उड़ते उड़ाते', रविकांत व संजय शमा (सम्पा.), दीवान-ए-सराय 01 : मीडिया विमर्श://हिंदी जनपद.

सैयद ज़ुल्फ़िक़ार अली बुख़ारी (2011), *सरगुज़श्त,* नैशनल बुक फ़ाउन्डेशन, इस्लामाबाद, 2011.

हरमिंदर सिंह हमराज़ (सम्पा.), *रेडियो न्यूज़ और लिस्नर्स बुलेटिन,* कानपुर